

हिन्द स्वराज का क्या करें?

प्रणय कृष्ण

प्रणय कृष्ण इलाहाबाद विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में एसोशिएट प्रोफेसर हैं। जन संस्कृति मंच के राष्ट्रीय महासचिव भी। उत्तर आधुनिकता एवं औपनिवेशिकता सम्बंधी कार्य के लिए चर्चित।

‘हिन्द स्वराज’ के प्रकाशन के 100 वर्ष पूरे होने पर उसकी प्रासंगिकता के मूल्यांकन का अधिकांश उत्तर आधुनिक मुहावरे में हो रहा है, यह उस पर अंग्रेजी की विभिन्न पत्र पत्रिकाओं में प्रकाशित सामग्री से जाहिर है। यह कोई कम बड़ी विडम्बना नहीं है कि जिस तकनीकी सभ्यता के प्रति गांधी इस पुस्तक में शंकालु थे, उसी से प्रसूत एक नितांत तकनीकी भाषा में उनकी उक्त पुस्तक के भाष्य हो रहे हैं। गांधी के लिए उनका लिखा सब कुछ व्यावहारिक तकाजों से पैदा हुआ था, इसलिए उनके लिखे की भाषा सामान्य पढ़े लिखे लोगों को सम्बोधित करने के लिहाज से बेहद सरल थी, जबकि 100 साल बाद के उनके भाष्यकार अकादमिक तकाजों की भाषा में ‘हिन्द स्वराज’ का भाष्य करने को विवश हैं, एक सीधी सरल किताब के तमाम मुश्किल पाठ करते हुए। 100 वर्ष होने पर अंग्रेजी में छपे तमाम लेखों की तो एक पूरी तकनीकी शब्दावली बनायी जा सकती है। यह तथ्य बताता है कि ‘हिन्द स्वराज’ अब मुट्ठी भर लोगों को छोड़ कर किसी के लिए ‘गाइड टू ऐक्शन’ नहीं है। ये किताब अब ‘विमर्श’ का हिस्सा है। कुछ लोगों के लिए उसका प्रतीकात्मक महत्व है।

‘हिन्द स्वराज’ की भाषा में तर्क और संयम के साथ साथ एक नैतिक आवेश भी है। यह नैतिक आवेश की भाषा आधुनिक सभ्यता के लिए ‘अधर्म की सभ्यता’ या ‘शैतानी सभ्यता’ जैसे मुहावरों के प्रयोग में या ब्रिटिश पार्लियामेंट को ‘बांझ’ या ‘वेश्या’ कहने में व्यक्त होती है। यह आवेश शिक्षित, सनातनी संस्कारों वाले उस हिन्दुस्तानी का है जिसने इंग्लैण्ड जाकर पढ़ाई की, ‘आधुनिक सभ्य पुरुष’ बनने के लिए सूट हैट टाई धारण किया, नाचना सीखा, भाषण कला सीखी, फ्रेंच और लैटिन भाषाएं सीखीं, वायलिन सीखा यानी ‘सभ्य’ बनने के लिए क्या क्या पापड़ नहीं बेले, लेकिन ‘सभ्यता’ ने उसे

तद्भव

स्वीकार नहीं किया, क्योंकि वह उपनिवेश बना लिए गये गुलाम देश का बाशिन्दा था। इंग्लैण्ड से भी ज्यादा दक्षिण अफ्रीका के अनुभवों ने काले और उपनिवेशित होने का दंश दिया। सभ्यता का छद्म इस अनुभव के जरिये ही उजागर हुआ। दूसरी ओर जो तर्क, चिन्तन और संयम 'हिन्द स्वराज' की भाषा में दिखायी पड़ता है, वह उस आत्मविश्वास का द्योतक है जो रस्किन, थोरो, कार्पेन्टर, टेलर, मैक्स नार्डू, टालस्टाय जैसे पश्चिम के ही विद्वानों द्वारा की गयी 'पश्चिमी सभ्यता' की आलोचना, साल्ट और डाक्टर एलिसन के शाकाहार सम्बंधी विचार, एनी बेसेन्ट के थियोसाफी के विचार के मनन से पैदा हुआ था। आपातस्थिति में अपने संस्कार ही किसी का सुरक्षा कवच बनते हैं, ऐसा ही गांधी जी के साथ भी हुआ, लेकिन इन संस्कारों में सभ्यता के विकल्प की सम्भावना के बीज छिपे हैं, इस विचार की दृढ़ता निश्चय ही पश्चिम में पनपे 'सभ्यता' के आलोचनात्मक चिन्तन से मिली। प्रस्तावना में गांधी जी ने खुद लिखा, "जो विचार यहां रखे गये हैं, वे मेरे हैं और मेरे नहीं भी हैं। वे मेरे हैं क्योंकि उनके मुताबिक बरतने की मैं उम्मीद करता हूँ: वे मेरी आत्मा में गढ़े जड़े हुए जैसे हैं। वे मेरे नहीं हैं, क्योंकि सिर्फ मैंने ही उन्हें सोचा हो सो बात नहीं। कुछ किताबें पढ़ने के बाद वे बने हैं। दिल में भीतर ही भीतर मैं जो महसूस करता था, उसका इन किताबों ने समर्थन किया।" पश्चिमी वैदुष्य की अनेक परम्पराओं में से एक परम्परा जो सभ्यता को पाप या बुरा का ही रूप मानती थी, उससे समर्थित देशीवाद हर उपनिवेशवाद विरोधी आंदोलन की एक धारा के बतौर इतिहासतः मौजूद रहा आया है। यही 'हिन्द स्वराज' की कथन भंगिमा का उत्स है। यंत्र, मिल, रेल। पार्लियामेण्ट, अदालत, अस्पताल आदि के बारे में जो अतिकथन हैं, वे भी इसी भंगिमा के कारण हैं। इन अतिकथनों का बहुत कुछ परिहार इस पुस्तक के बारे में 1921 में गांधी जी द्वारा 'यंग इंडिया' के गुजराती संस्करण में लिखे वक्तव्य से हो जाता है, जिसमें वे स्पष्ट करते हैं कि देश की जनता की इच्छा के मुताबिक 'पार्लियामेण्ट्री ढंग' के स्वराज्य के लिए ही वे लड़ रहे हैं, भले ही 'हिन्द स्वराज' में पार्लियामेण्ट के बारे में उनके विचार दूसरे हैं। इसी तरह वे रेल और अस्पताल को न टाली जा सकने वाली बुराई के रूप में स्वीकार करते हैं। कहते हैं कि अदालत, यंत्र और मिलों के नाश की उनकी कोई इच्छा नहीं है, हालांकि इनका कुदरती नाश हो जाय तो उन्हें कोई आपत्ति भी नहीं। 1921 तक आते आते ही वे यह मान लेते हैं कि 'हिन्द स्वराज' के उनके विचारों को पूरी तरह अमल में लाने के लिए भारत तब तक तैयार नहीं था। वे स्वयं छोट कर अकेले 'अहिंसा' के सीमित अमल को ही उस समय उस पुस्तक की व्यवहार्यता के प्रसंग में रेखांकित करते हैं। आजादी के आंदोलन के सिलसिले में उन्हें रेल, पानी के जहाज, मोटर कार से यात्राएं करनी ही पड़ती थीं। उनके सेवाग्राम स्थित आश्रम में उनके द्वारा इस्तेमाल किया जाने वाला टेलीफोन आज भी रखा है। वकालत के पेशे की उन्होंने चाहे जितनी निन्दा 'हिन्द स्वराज' में की हो, उनके सहयोगियों में मोतीलाल नेहरू, राजाजी, जवाहरलाल नेहरू, मोहम्मद अली जिन्ना, राजेन्द्र प्रसाद, वल्लभ भाई पटेल व अन्य तमाम लोग इसी पेशे से आते थे। 1921 का उनका वक्तव्य भारत के औपनिवेशिक यथार्थ से उनके वास्तविक साक्षात्कार का द्योतक है जिसके दबाव में वे 'आधुनिक सभ्यता' के बारे में 1909 की किताब में व्यक्त आदर्शमूलक स्थापनाओं, नैतिक आक्रोश और देशीवादी आग्रहों से निकलने वाले निष्कर्षों को स्थगित रखते हैं, छोड़ते नहीं।

1938 में थियोसोफिकल सोसायटी की पत्रिका 'आर्यन पाथ' का विशेषांक 'हिन्द स्वराज' पर निकला। इस अंक में प्रख्यात अंग्रेज समालोचक मिडिल्टन मरे ने रूसो द्वारा पश्चिमी सभ्यता की कठोर आलोचना से 'हिन्द स्वराज' की तुलना करते हुए लिखा कि रूसो का 'प्राकृतिक इनसान' जोकि 'सभ्यता' के भ्रष्ट बनाने वाले प्रभावों से अछूता था, वह गांधी के मन में 'भारतीय किसान' के रूप में उतरा। जहां रूसो का 'प्राकृतिक इनसान' एक आदर्श था, वहीं गांधी के लिए वह भारतीय किसान के रूप में मूर्त सच्चाई था। इसी लेख में मरे गांधी जी द्वारा यंत्र की आलोचना पर सवाल उठाते हुए यह भी कहते हैं कि 'उन्हें इतना प्रिय चरखा भी आखिरकार यंत्र ही है।' इसी अंक में बर्न्स भी रेखांकित करते हैं कि 'चरखा, चश्मा, हल, पानी खींचने के पुराने यंत्र आदि भी यंत्र ही हैं। यह सारे यंत्र मनुष्य ने बनाये हैं, कुदरती नहीं हैं।' महादेव देसाई ने इस अंक की समालोचना जो 'हरिजन' मासिक के लिए लिखी थी,

तद्भव

उसे ही पुस्तक के नये संस्करण की प्रस्तावना के बतौर प्रस्तुत करते हुए उम्मीद जाहिर की कि गांधी जी ने यंत्र के बारे में जो अनगढ़ भाषा इस्तेमाल की है, उसे वे बदल देंगे, यदि किताब को सुधारने का उन्हें मौका मिला तो। इसी लेख में महादेव देसाई ने गांधी जी और श्री रामचंद्रन के बीच एक रोचक संवाद भी उद्धृत किया है। इस संवाद में गांधी जी ने स्वीकार किया कि यंत्र (तक्नालाजी) और विज्ञान लोभ के साधन नहीं, बल्कि इनसान के भले के लिए होने चाहिए। सिन्गर मशीन या लोहार के तकुए को सीधा करने वाले यंत्र उनके अनुसार ऐसे ही यंत्र हैं जिनके पीछे मानव प्रेम है, जो मानव श्रम की बचत के लिए बनाये गये हैं। गांधी जी फिर भी भौतिक ताकत से चलने वाली भारी और पेचीदा मशीनों का उपयोग न करने पर बल देते हैं। इस पर रामचंद्रन उन्हें ध्यान दिलाते हैं कि सिन्गर मशीन बनाने के लिए भी बड़ा कारखाना चाहिए और उसमें भौतिक ताकत से चलने वाले यंत्रों का उपयोग होगा ही। इस पर गांधी जी कहते हैं “...मैं इतना कहने की हद तक तो समाजवादी हूँ ही कि ऐसे कारखानों का मालिक राष्ट्र हो या जनता की सरकार।” इस संवाद से इस बात का भी जवाब मिल जाता है कि क्यों गांधी जी ने जवाहरलाल नेहरू को अपना उत्तराधिकारी घोषित करने के बाद अपने जीवन के अंतिम कुछ महीनों में अपने अनुयायियों को समझाया कि नेहरू द्वारा भारतीय राज्य की संरचना तय करने और उसे मजबूत बनाने के लिए किये जाने वाले काम में खलल न डाली जाय। जब उनके अनुयायियों ने उनका ध्यान इस ओर दिलाया कि संविधान सभा में पंचायती राज का कोई प्रावधान नहीं रखा गया है तो उन्होंने उनसे यही कहा कि उन्हें राजनीतिक गतिविधि से दूर रह कर रचनात्मक कार्यों में लगना चाहिए। काफी असें तक यदि नेहरू के पब्लिक सेक्टर आधारित विकास नीति के खिलाफ गांधीवादियों ने कोई आंदोलन नहीं किया या विकास के वैकल्पिक माडल की बात नहीं उठायी तो इसके बीज बहुत पहले के रामचंद्रन गांधी संवाद में ही मिल जाते हैं, जहां गांधी एक तरह से राज्य प्रायोजित भारी उद्योगों के विकास को अनुमन्य मानते हैं। लिहाजा 1938 में गांधी जी द्वारा यह कहना कि उन्हें इस पुस्तक में बताये विचारों में फेरबदल की जरूरत नहीं लगती, एक तरह से बीज रूप में सुरक्षित उन विचारों के चरितार्थ होने की सम्भावना को बचाये रखने की उनकी इच्छा का द्योतक है जिन्हें वे यथार्थ की जमीन पर खुद चरितार्थ नहीं कर सकते थे, लेकिन भावी पीढ़ियों से उम्मीद तो कर ही सकते थे। दूसरे शब्दों में कहे तो ऐतिहासिक यथार्थ उन्हें ‘हिन्द स्वराज’ से जितना ही दूर ले जा रहा था, उसी अनुपात में उसके सामाजिक, राजनैतिक निहितार्थों की जगह उसके आध्यात्मिक, सांस्कृतिक पाठों की जगह भविष्य के लिए तैयार हो रही थी। 1921 के ‘यंग इंडिया’ के लेख में गांधी जी ने खुद ही ‘हिन्द स्वराज’ के विषय में लिखा, “... यह द्वेष धर्म की जगह प्रेम धर्म सिखाती है; हिंसा की जगह आत्म बलिदान रखती है; पशुबल से टक्कर लेने के लिए आत्मबल को खड़ा करती है... ऐसा नहीं कि उस समूचे सिद्धांत का अमल करने में जोखिम है; लेकिन आज देश के सामने जो प्रश्न हैं उसके साथ जिन हिस्सों का कोई सम्बंध नहीं है ऐसे हिस्से मेरे लेखों से देकर लोगों को भड़काने में न्याय हरगिज नहीं है।” जो लोग यह कहते हैं कि गांधी जी के सामाजिक आर्थिक कार्यक्रमों और राजनीतिक गतिविधियों को किसी भी कीमत पर उनके द्वारा सभ्यता के धर्मपरक विकल्प से अलगा कर नहीं देखा जा सकता, उन्हें गांधी जी की उपरोक्त पंक्तियों पर ध्यान देना चाहिए। सच तो यह है कि उनके सामाजिक आर्थिक कार्यक्रमों के अंशों पर अमल छोटे बड़े स्तरों पर हुआ भी है और हो भी सकता है, पूंजीवाद के भीतर भी और शायद समाजवाद के भीतर भी। यह इस पर निर्भर करता है कि कुल मिला कर किस किस की समाजार्थिक और राजनीतिक संरचना के भीतर कौन से वर्ग उसके किन अंशों को किन उद्देश्यों के लिए अमल में लाते हैं। गांधी जी पूंजीवाद का यथार्थवादी विकल्प नहीं प्रस्तुत कर सके, लेकिन जैसा कि भिखू पारेख ने रेखांकित किया है, उन्होंने दांतवाला ड्राट का अनुमोदन करते हुए उत्पादन व्यवस्था के सामाजिक नियमन और जवाबदेही, न्यूनतम आय असमानता, सम्पत्ति के अधिकार को काफी हद तक परिसीमित करने, सम्मानजनक न्यूनतम मजदूरी, गरीबी के खिलाफ जंग जैसी चीजों पर अपनी सहमति जतायी थी। इसी तरह कृषि को पर्याप्त महत्व देने वाली राष्ट्रीय योजना और प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण जैसे उनके विचार भी उल्लेखनीय हैं। मुश्किल यह है कि क्रांतिकारी

तद्भव

राजनीति के अभाव में जिसके बगैर समाज का आर्थिक ढांचा बदल ही नहीं सकता, किसी भी आमूलचूल परिवर्तन की आशा नहीं की जा सकती। गांधी जी की तमाम सदाशयता, उस भीषण गरीबी से परत किसान जनता, उन्हीं के शब्दों में, “...अधभूखी जनता... धीरे धीरे निस्पंदता में डूबती है...” के प्रति उनके अगाध प्यार और चिन्ता के बावजूद 1947 के बाद हिन्दुस्तान का वारिस गांधी का किसान नहीं, बल्कि बहुवर्गीय कांग्रेस पार्टी का वह तबका बना जो पूंजी का मालिक था। पहले से चला आ रहा समाजार्थिक ढांचा, शासन सत्ता और नौकरशाही का बहुलांश सुरक्षित रखा गया। नेहरू का समाजवाद सरकार समर्थित भारतीय विशेषताओं वाला पूंजीवाद ही प्रमाणित हुआ। ‘वर्तमान व्यवस्था को बनाये रखने की भीषण कीमत’ के बारे में गांधी की चेतावनी अनसुनी ही रह जानी थी।

गांधी की राजनैतिक विरासत बड़ी है। उपनिवेशवाद विरोधी संघर्ष के तो अग्रणी योद्धा वे थे ही, विश्वशांति, निःशस्त्रीकरण, मानवाधिकार, पर्यावरण, धार्मिक सद्भाव (जिसके लिए उन्होंने जान की कीमत चुकायी), विकास के वैकल्पिक मॉडल और सामाजिक न्याय के पहलू से आंदोलन करने वाले तमाम संगठनों और व्यक्तियों के लिए वे आज भी प्रेरणास्रोत हैं। गांधी ने खुद ही कहा था, “मेरा जीवन ही मेरा संदेश है।” ऐसे में उनसे प्रभावित तमाम लोग मार्टिन लूथर किंग जैसे अश्वेत आंदोलनकर्ता, हो ची मिन्ह जैसे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी, नेल्सन मंडेला जैसे उपनिवेशवाद विरोधी, रंगभेद विरोधी नेता, उनके जीवन संघर्ष के अनेक पहलुओं से प्रेरित और प्रभावित रहे हैं। ‘हिन्द स्वराज’ का बहुलांश तो स्वयं गांधी जी की ही निगाह में तत्कालीन परिस्थितियों के दबाव में उनके जीवन संघर्ष में चरितार्थ नहीं हो पाया। सोचने की बात है कि यदि उनका जीवन ही उनका संदेश है तो उसमें कितना हिस्सा ‘हिन्द स्वराज’ के सभ्यता विमर्श का है जिसने दुनिया भर के अलग अलग विचारधारा के तमाम नामचीन लोगों को आकर्षित किया। काका कालेलकर ने 1959 में इस पुस्तक के पहले ‘दो शब्द’ लिखते हुए उसकी सामाजिक, राजनैतिक व्यवहार्यता पर परोक्षतः प्रश्न उठाते हुए लिखा, “मैंने एक दफे गांधी जी से कहा था कि... ‘हिन्द स्वराज’ पढ़ने से यही ख्याल होता है कि आप भूतकाल को फिर से जाग्रत करने के पक्ष में हैं। आप को बार बार कहना पड़ता है कि आप भूतकाल के उपासक नहीं हैं। मानव जाति ने गलत रास्ते जितनी प्रगति की उतना पीछे चल कर सच्चे रास्ते पर लगने के बाद आप फिर नीतिनिष्ठ, आत्मनिष्ठ रास्ते से नयी प्रगति करना चाहते हैं... आपका जीवन कार्य करीब करीब समाप्त होने को आया... आप फिर से अपने जीवन भर के अनुभव और चिन्तन की बुनियाद पर ऐसी एक नयी ही किताब क्यों नहीं लिखते, जिसमें भविष्य की एक हजार साल की महामानव संस्कृति का बीज दुनिया को मिले?” वास्तव में काका कालेलकर जिस बात को रेखांकित कर रहे हैं, वह यही है कि प्रगति कोई मिथक नहीं, बल्कि ठोस यथार्थ है, वह महज विमर्श की निर्मिति नहीं है जिसका विखंडन कर कोई संतुष्ट हो ले। ज्ञानोदय के समय से ही आधुनिक औद्योगिक सभ्यता की बुराइयों की आलोचना पश्चिम में शुरू हो जाती है। बहुत सी ऐसी आलोचना स्वर्णिम अतीत में लौटने का विकल्प प्रस्तावित करती है। इन आलोचनाओं में बहुधा समाजवादी स्वप्न और उद्देश्य भी रहा करते थे। ये स्वप्न या यूटोपिया भौतिक परिस्थिति और प्रकृति तथा पदार्थ की द्वंद्व गति की अवहेलना पर आधारित थे। कोई चीज अच्छी हो या बुरी, यदि वह गतिमान है तो उसके भीतर से ही उसका विरोध आयेगा जो नयी चीज को जन्म देगा। लेकिन गतिमान यथार्थ के बाहर से किसी विकल्प की कामना तो स्वप्न में इच्छा पूर्ति ही है जो किसी अतीन्द्रिय पराशक्ति के हस्तक्षेप की पुकार है, भले ही उस पराशक्ति के वाहक कुछ महानायक हों जिन पर उसकी अनुकम्पा हो। द्वंद्व गति का सिद्धांत है। इसकी अवहेलना पर टिका आधुनिकता या सभ्यता की बुराइयों के प्रति नैतिक आक्रोश इसीलिए लगभग सदैव ही धार्मिक मुहावरे में व्यक्त होता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि “धर्म इस संसार का सामान्य सिद्धांत है, उसका ज्ञानकोपीय सारांश है, उसका लोकप्रिय तर्कशास्त्र है, उसके आध्यात्मिक सम्मान का शिखर है, उसका उत्साह, उसकी नैतिक भावना है, उसका पवित्र पूरक है, उसकी सांत्वना और औचित्य का सामान्य आधार है...” (मार्क्स एंगेल्स) गांधी जी के लिए सभ्यता जिसे कुचल रही है वह धर्म ही है। इसलिए सभ्यता का विकल्प भी धर्म की स्थापना ही है। अकारण नहीं

तद्भव

कि गांधीवादी विचारक नंदकिशोर आचार्य ने गांधीदृष्टि पर केन्द्रित 'सभ्यता का विकल्प' शीर्षक अपनी पुस्तक के पहले अध्याय का नाम ही रखा है— 'धर्म संस्थापनार्थाय'। गांधी जी ने यों तो 'हिंद स्वराज' में धर्म की वैसी सर्वांग और उदात्त परिभाषा नहीं की है जैसी ऊपर उद्धृत पंक्तियों में मार्क्स एंगेल्स ने, किन्तु उनका धर्म से आशय उदात्त और व्यापक ही है। वे 'हिन्द स्वराज' में कहते हैं, "मेरी पक्की राय है, कि हिन्दुस्तान अंग्रेजों से नहीं, बल्कि आजकल की सभ्यता से कुचला जा रहा है, उसकी चपेट में वह फंस गया है। उसमें से बचने का अभी भी उपाय है, लेकिन दिन ब दिन समय बीतता जा रहा है। मुझे तो धर्म प्यारा है; इसलिए पहला दुःख मुझे यह है कि हिन्दुस्तान धर्मभ्रष्ट होता जा रहा है। धर्म का अर्थ मैं यहां हिन्दू, मुस्लिम या जरथोष्ट्री धर्म नहीं करता। लेकिन सब धर्मों के अंदर जो धर्म है वह हिन्दुस्तान से जा रहा है; हम ईश्वर से विमुख होते जा रहे हैं।" जाहिर है मार्क्स एंगेल्स ने भी सब धर्मों के अंदर जो धर्म है, उसे ही पहचाना था। उन्होंने धर्म की व्याख्या में आगे कहा, "धर्म पीड़ित मनुष्य की कराह है, वह हृदयहीन संसार का हृदय है, आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है, वह जनता का अफीम है।" (यह अलग बात है कि मार्क्सवाद के बहुत से अपरिपक्व पाठकों ने इस अंतिम वाक्यांश को ही सुन सुना कर इस पूरी व्याख्या की गम्भीरता को न समझते हुए, उनका अन्यायकारण किया) लेकिन 'हिन्द स्वराज' के गांधी को पढ़ते हुए धर्म से उनके अभिप्राय को समझने के लिए बरबस ही मार्क्स एंगेल्स की यह पंक्तियां याद आती हैं। श्री महेश गावस्कर ने ई.पी.डब्लू. के 5 सितम्बर के अंक में उचित ही 'हिन्द स्वराज' पर अपने लेख का शीर्षक दिया है, 'आधुनिकता के दौर में पवित्र की पुनःप्राप्ति'। सवाल यही है कि क्या यह पुनःप्राप्ति व्यापक समाज के लिए सम्भव है? पिछले 100 सालों में तो धर्म का वह रूप भी शिनाख्त के काबिल नहीं रह गया है जिसकी 19वीं सदी के मध्य में मार्क्स और एंगेल्स ने ऐसी तलस्पर्शी व्याख्या उसके सभी यानी ऐतिहासिक, सामाजिक और आध्यात्मिक आचामों में की थी या 20वीं सदी के आरम्भ में उसे गांधी जैसा समझते हैं। मार्क्स तो तभी इस निष्कर्ष पर पहुंचे हुए थे कि मनुष्यता के लिए उसकी न्याय चेतना, उसकी आत्मिक जरूरतों, उसकी शांति और मुक्ति की इच्छा, आत्मनिर्वासन से मुक्ति के लिए धर्म का रास्ता आधुनिक समय में खुला नहीं रह गया है क्योंकि धर्म इस दुनिया की कितनी भी मानवीय, किन्तु उल्टी चेतना है। उन्हीं के शब्दों में, "जब व्यावहारिक जीवन में एक बार मनुष्य और प्रकृति का सार, यानी मनुष्य एक प्राकृतिक जीव के रूप में और प्रकृति एक मानवीय यथार्थ के रूप में सुस्पष्ट हो जाता है, इंद्रियानुभवगम्य हो जाता है, तब व्यवहार में मनुष्य और प्रकृति से परे किसी परायी सत्ता की खोज असम्भव हो जाती है।" आज उस इंद्रियातीत, मनुष्य और प्रकृति को व्यापती और उससे परे भी स्थित सत्ता की खोज की असम्भवता और भी जाहिर है। 'हिन्द स्वराज' के बाद के 100 सालों में हुआ इतना ही है कि दुनिया पर अधिकार रखने वाले लोगों ने उस धर्म को शिनाख्त के काबिल नहीं छोड़ा है जो "पीड़ित मनुष्य की कराह है, जो हृदयहीन संसार का हृदय है, जो आत्माहीन परिस्थितियों की आत्मा है," जिसकी पुनः प्राप्ति गांधी का इष्ट थी। धर्म आज पूंजी की सत्ता के घोड़े पर सवार है, झग की तरह आम इनसान के मन की धमनियों में उन्मादी उद्देश्यों के लिए आधुनिकतम तकनीकी साधनों की मार्फत उतारा जाता हुआ हम उसे रोज देखते हैं। जो लोग यह जानते भी हैं कि आज धर्म का जो भी अर्थ चलन में है वह गांधी का धर्म नहीं है, लेकिन उसकी पुनःप्राप्ति का हठ वे छोड़ नहीं पाते। यदि धर्म का आज का परिवेश उन्हें विचलित करता है तो धर्म के उस खो चुके रूप को वे भाषा या कला या साहित्य में पाना चाहते हैं, उसके स्वतःसम्पूर्ण संसार में अमूर्त और अपालथव की उपासना करते हुए। वे इतिहास, विज्ञान, तर्क, प्रगति, यथार्थ के तुमुलमय संसार से राहत के बतौर उसे पाना चाहते हैं।

गांधी जी खुद ही 1921 वाले लेख में 'अहिंसा' के सीमित अमल को ही उस समय 'हिन्द स्वराज' की व्यवहार्यता के प्रसंग में रेखांकित करते हैं, अतः कुछ बातें यहां अहिंसा के प्रसंग में करनी अप्रासंगिक न होंगी।

'अहिंसा' के सम्बंध में दो बातें नितांत भ्रामक हैं। पहली तो यह कि अहिंसा भारतीय संस्कृति का मूल या भारतीयता की पहचान है। भारतीयता या यूरोपीयता या किसी भी अन्य सभ्यता के अनेक

परस्पर विरोधी मूल्य हैं, जो इतिहास की भौतिक परिस्थिति में जन्मते हैं। इतिहास में कभी कोई मूल्य व्यवस्था प्रमुख हो उठती है, कभी कोई और। मसलन वेदों में अहिंसा दूढ़ना मुश्किल है लेकिन अवैदिक दर्शनों, खासकर बौद्ध और जैन दर्शनों में उसका प्रमुख स्थान है। कालक्रम में अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग हुए। मसलन खेती किसानी के इलाकों में इजाफे से पशुधन की जरूरतों ने पशुबलि की प्रथा को काफी कम किया, जिसके चलते मूल्यगत स्तर पर जैनों बौद्धों की तर्ज पर तमाम समुदायों (वैष्णव आदि) ने अहिंसा को अपनाया। राजनीति के क्षेत्र में कलिंग युद्ध के बाद अशोक के राजनय में इसका प्रमुख स्थान था। 'अष्टांग योग' के पहले अंग यानी पांच यमों में अहिंसा पहली है। लेकिन इन सबके बावजूद भारत की जनता का अधिकांश आज भी मांसाहारी है। कारण यह है कि लोग किसी भी आदर्श को दी हुई भौतिक परिस्थिति में ही स्वीकारते या नकारते हैं। अकाल, सूखा जैसी स्थितियां (जिनसे भारत कभी भी मुक्त नहीं रहा तथा जो औपनिवेशिक समय में और भी विकराल हुए) जनता के सामने शाकाहार /मांसाहार का चुनाव नहीं छोड़तीं। प्रोटीन के सस्ते और बहुत बार मुफ्त स्रोत जनता के एक बड़े हिस्से को मांस के रूप में ही उपलब्ध हैं। यों भी वनस्पति भी प्राणवान है, अतः अहिंसा के प्रसंग में शाकाहार का विशेष महत्व नहीं है।) विकट जंगली इलाकों में तैनात सुरक्षाकर्मी जिस भी संस्कार के हों, यदि प्राण पर बन आये तो शायद ही मांस खाना नकारें। ये अलग बात है कि स्वयं गांधी अलग चुनाव कर सकते थे। आखिरकार 1942 के जापानी हमले का भी वे अहिंसक प्रतिरोध प्रस्तावित कर रहे थे, जिसे मानने का अर्थ होता करोड़ों जानों की कुर्बानी। लुई फिशर के साक्ष्य पर हमें ज्ञात है कि 1938 में फिशर के पूछने पर गांधी ने कहा था कि जर्मन यहूदियों को सामूहिक आत्मघात कर लेना चाहिए। ऐसा करके वे दुनिया और जर्मनी की आत्मा को हिटलर के अत्याचारों के प्रति जगा सकते थे। युद्ध के बाद भी उन्होंने यही कहा कि यहूदी जैसे भी मारे ही गये, लिहाजा सामूहिक आत्महत्या का अहिंसक प्रतिरोध करने का भी चुनाव वे कर ही सकते थे। यह सुन कर फिशर जैसे गांधी के परम समर्थक भी ठगे से रह गये थे। गांधी के एक और प्रशंसक नेल्सन मंडेला ने लिखा, "मैंने गांधीवादी रणनीति जहां तक बन पड़ा, अपनायी। लेकिन हमारे आंदोलन में एक ऐसा मुकाम आया जब शोषकों के पशुबल का मुकाबला महज शांतिपूर्ण प्रतिरोध से सम्भव नहीं रह गया। तब हमने 'उमोखोंतो वे सिसजे' बना कर अपने आंदोलन में एक सैन्य आयाम जोड़ा।" शोषकों का पशुबल सर्वाधिक राज्य मशीनरी के जरिए अभिव्यक्त होता है। कई बार ऐसा लगता है कि आत्मबल के बूते उससे मुकाबले पर जो गांधी जी का ऐकांतिक बल है, उसमें राजसत्ता के स्वरूप और प्रकार्य के बारे में एक अबोधपन दिखता है जो गांधीवादी आंदोलनकारियों को यथार्थपरक राजनीतिक विकल्प देने से रोकता है। वे दबाव समूह बन कर रह जाते हैं। ऐसा महज गांधीवादियों के साथ होता हो, सो बात नहीं, बल्कि वाम अराजकतावादियों के साथ भी होता है, सारी ईमानदारी और सदाशयता के बावजूद। राजसत्ता को लेकर इस अबोधपन का फायदा उठाने का प्रयास सत्ताधारी कभी नहीं छोड़ते। अभी पिछले वर्ष छत्तीसगढ़ राज्य में बिनायक सेन की रिहाई के लिए, माओवाद से लड़ने के नाम पर निर्दोषों की हत्या और राज्य दमन के खिलाफ श्री संदीप पांडेय के नेतृत्व में गांधीवादियों ने सत्याग्रह कर रखा था। इसके खिलाफ वहां के पुलिस बल के मुखिया ने अखबारों के जरिए उनसे बहस चलायी। कहा कि यदि आप मानवाधिकार, लोकतंत्र वगैरह के पक्ष में हैं तो यहां क्या बैठे हैं, जाइये बस्तर के जंगलों में नक्सलियों से शस्त्र समर्पण कराइये। मतलब यह कि गांधीवादी हैं तो हिंसा से लड़िये, सत्ता से लड़ने का भला आप का क्या काम? सत्ता तो पवित्र गाय है, उसका भला हिंसा से क्या काम? बहरहाल अच्छी बात यह है कि आज भारत में नयी पीढ़ी के बहुतेरे गांधीवादी राजसत्ता के प्रति 'हिन्द स्वराज' जैसी अबोधता नहीं रखते और न ही राजसत्ता के ज्ञासे में आने वाले हैं। पंडित नेहरू और इंदिरा गांधी ने विनोबा जी का जैसा उपयोग किया (जिसके चलते वे गांधी के 'प्रथम सत्याग्रही' से लोहिया के द्वारा 'सरकारी संत' कहलाने की नियति तक पहुंचे) इसी अबोधपन का परिणाम था, अगर इसे चतुराई न भी कहा जाय तो।

गांधी स्वयं ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ लड़ते हुए राजसत्ता के प्रसंग में 'हिन्द स्वराज' वाले

तद्भव

गांधी नहीं रह जाते। गांधी जी जब 'हिन्द स्वराज' में यह कहते हैं कि हमने ही अंग्रेज व्यापारियों को भारत का शासन सौंप दिया, तो इस वक्तव्य में भी अंग्रेजों के सत्ताबल के प्रति एक तरह की अवहेलना ही दिखती है। ध्यान रहे कि 'हिन्द स्वराज' से 5 साल पहले देउस्कर की पुस्तक 'देश की बात' प्रकाश में आ चुकी थी। इस पुस्तक में देउस्कर ने लिखा, "अंग्रेज तीन प्रकार की लड़ाई जीत कर निर्विघ्न राज कर रहे हैं। इनमें पहले युद्ध को हम बाहुयुद्ध कह सकते हैं। राजनीति के कुटिल कौशल से तथा नये नये अस्त्र शस्त्र के फल से अंग्रेजों ने इस देश पर जो अधिकार जमाया है, वह इसी युद्ध का फल है... इस युद्ध में वे अपना धनबल खो बैठे हैं, पाठक समझ गये होंगे कि हम 'वाणिज्य युद्ध' की बात कर रहे हैं... रेल, तार, जहाज और बिना लगाम की वाणिज्य नीति, यही इस लड़ाई के प्रधान अस्त्र हैं। प्रबल राजशक्ति से सहायता पाये हुए गोरे बनिये इस लड़ाई के योद्धा हैं... शरीर युद्ध में भारतवासियों का बाहुबल और वाणिज्य युद्ध में उनका धन बल हरण करके ही अंग्रेज शांत नहीं हुए... अति दुर्बल जाति में मतिभ्रम उत्पन्न करके और मन की दृढ़ता का नाश करने का बड़े बड़े राजनीति विशारदों के मत से यही संग्राम अमोघ अस्त्र है..." जाहिर है कि जहां गांधी जी के 'हिन्द स्वराज' में भारतीयों के मतिभ्रम यानी अपने संस्कारों से कट जाने, धर्मभ्रष्ट हो जाने को वरीयता दी गयी है और उसके लिए भी भारतीयों को ही जिम्मेदार ठहराया गया है, वहीं देउस्कर बाहुयुद्ध, वाणिज्य युद्ध और बुद्धियुद्ध (सम्मोहन चित्त विजय) तीनों की समग्रता को रेखांकित करते हैं जबकि गांधी जी ने सत्ताबल की जगह सांस्कृतिक पक्ष पर ज्यादा बल दिया है।

अहिंसा न तो परिस्थिति निरपेक्ष मूल्य है, न ही भारतीय सभ्यता की आत्मा और न ही गांधी जी की दुनिया को मौलिक देन। गांधी जी की मौलिकता इस बात में थी कि उन्होंने अहिंसा को आधुनिक राजनीति में प्रतिरोध का अस्त्र बनाया। (यह तथ्य मैं यह जानते हुए भी रखना चाहता हूँ कि स्वयं गांधी अहिंसा को महज एक राजनीतिक अस्त्र मानने के खिलाफ थे, उनके लिए वह मुकम्मल जीवन दर्शन था।) मध्यकालीन राजनीति में अशोक, हर्ष आदि ने अहिंसा के राजनयिक प्रयोग किये लेकिन आधुनिक युग से पहले हमारे सुनने में नहीं आता कि किसी व्यक्ति या समुदाय ने किसी जुल्म के विरोध में अहिंसा को अस्त्र बनाया हो। बड़े बड़े मध्यकालीन संत (वैष्णवों सहित) भी सम्प्रदाय की आपसी लड़ाइयों में अथवा राजा के खिलाफ हथियार उठा लिया करते थे। दरअसल अहिंसा, सत्याग्रह, अनशन, सिविल नाफरमानी, असहयोग, सविनय अवज्ञा या अन्य कोई भी अहिंसक प्रतिरोध का तरीका आधुनिक युग के पहले ईजाद हो ही नहीं सकता था। अहिंसक राजनीतिक प्रतिरोध एक ऐसे राजनीतिक परिवेश में ही सम्भव है जहां जनमत का कोई महत्व हो, यानी जनमत शासन सत्ता को प्रभावित कर सके। मध्ययुगीन राजशाहियों में इसकी उम्मीद नहीं की जा सकती थी। आधुनिक राष्ट्र राज्य की शासन व्यवस्था राजशाही नहीं रह सकती थी, उसका इतिहासतः अंत हुआ। उसका स्थान ग्रहण किया संवैधानिक लोकतंत्र ने। दैवी न्याय की धारणा की जगह मनुष्यकृत कानून का शासन आया। लोकतंत्र का युग आने के बाद ही यह सम्भव हुआ कि सरकार कितनी भी आततायी या तानाशाह और बर्बर हो, जनमत का दबाव वह महसूस करती है। आज भी जहां मिलिट्री तानाशाहियां हैं, वहां के कई बड़े नेता अहिंसात्मक तरीकों से विश्व जनमत का दबाव अपने शासकों पर डलवाने में समर्थ देखे जाते हैं।

दिखावे के लिए ही सही, तमाम औपनिवेशिक शासनों को भी संविधान और कानून के शासन के सीमित व्यवहार को अपनाना पड़ा। संचार के आधुनिक माध्यमों, रेल, डाक, तार, प्रकाशन, पत्र पत्रिकाओं से एकीकृत समाज जिसमें एक क्रियाशील मध्यवर्ग का उदय हो चुका हो, अहिंसक प्रतिरोध की राजनीति की जरूरी शर्त है। महात्मा गांधी एक ऐसे ही समाज में अहिंसा को हथियार बना सके। भूख हड़ताल पर कोई इस भरोसे न तब बैठता था और न अब कि परमात्मा सत्ताधारियों को सदबुद्धि देंगे और वे जुल्म का रास्त । छोड़ कर न्याय का रास्ता अपनायेंगे। यह व्यापकतम जनमत निर्माण का किफायती तरीका था, लोगों के सामने शासन की कलाई खोलने का तरीका था और उन्हें साहस देने का भी, उनमें नैतिक बल पैदा करने का भी। इसके जरिए शासक मजबूर किये जाते थे कि या तो वे संविधान, कानून, लोकहित

तद्भव

आदि के अपने दावों और वादों पर अमल करें या फिर जनता की निगाह में गिर कर अपनी वैधता खो दें। इसके लिए भूख हड़ताल पर बैठे व्यक्ति या समुदाय के संदेश को जन जन तक ले जाने वाली और उन्हें संगठित करने वाली आधुनिक राजनीतिक संस्थाएं और मंच, अखबार आदि साधन, बुद्धिजीवी वर्ग की आवश्यकता थी। अहिंसा का राजनीतिक हथियार आत्मनिर्भर ग्राम समाजों, पिछड़ी संचार व्यवस्था (बैलगाड़ी युग), बौद्धिक पेशों के अभाव की दुनिया में न जन्म ले सकता था और न कारगर हो सकता था। किसी भी पूंजीवादी लोकतंत्र में अहिंसात्मक प्रतिरोध कानूनी दायरे की चीज है, व्यवस्था में जरूरी सुधारों के लिए, बल्कि कभी कभी तो व्यवस्था परिवर्तन के लिए जनमत तैयार करने के लिए भी, लेकिन एक व्यवस्था को समाप्त करके उसकी जगह दूसरी व्यवस्था लाने की वास्तविक कार्यवाही में इसकी पर्याप्तता आज भी इतिहास से प्रमाणित नहीं है। दरअसल आचरण की सभ्यता, व्यक्तिगत जीवन मूल्य, धार्मिक आस्था के स्तर पर तो अहिंसा कोई विवादित मसला है ही नहीं। बल्कि राजनीतिक प्रतिरोध के एक औजार के रूप में भी इसके औचित्य पर प्रश्न नहीं उठाया जा सकता है। मुश्किल तब होती है जब वर्ग विभाजित समाज की वास्तविक प्रक्रियाओं से काट कर उसे एक सार्वभौम मूल्य का दर्जा देने की कोशिश होती है। ऐसा करते ही अहिंसा वास्तविक सामाजिक प्रक्रियाओं से कट कर राजनीतिक प्रतिरोध के औजार के रूप में भी अपनी उपादेयता खो देती है और मुर्दा प्रतीक में ढल कर शासकों के प्रिय पाखंड में बदल जाती है। गांधी ब्रैन्ड बनते हैं, विश्व सुंदरियां गांधी को अपना आदर्श घोषित करती हैं, दुनिया की सबसे बड़ी हमलावर साम्राज्यवादी ताकत के प्रतिनिधि गांधी के कसीदे पढ़ते हैं, गांधी के नाम पर कारपोरेट दुनिया हज़ारों गैर सरकारी संस्थाओं में अरबों डालर उड़ेलती है ताकि वास्तविक प्रतिरोधी कार्यवाइयों स्थगित रहें, गांधी के पट्ट शिष्य विपक्ष की जगह सत्ता के हित पूरा करते हैं। तेलंगाना के किसान आंदोलन को शांत करने के लिए पदयात्रा करते हुए, वास्तविक भूमि सुधार के बदले भूदान रचाते हुए, आपातकाल को 'अनुशासन पर्व' घोषित करते हुए।

अहिंसा उसी अनुपात में प्राकृतिक कही जा सकती है जिस अनुपात में उसे मूल्य का दर्जा देने वाला मनुष्य एक प्राकृतिक प्राणी है, वर्ना आहार चक्र तो खुद ही हिंसक है। हिंसा के लिए तमाम रूपक मुहावरे की शक्ति में प्रकृति से ही लिए गये हैं जैसे कि 'मत्स्यन्याय' या 'जंगलराज'। मानव जीवन के लिए अहिंसा 'मुक्ति के दायरे' (रियल्म आफ फ्रीडम) की चीज हो सकती है, जबकि 'जरूरत का दायरा' (रियल्म आफ नेसेसिटी) इस हद तक रूपांतरित हो चुका हो कि उसे धारण कर सके। हिंसा पूंजीवाद के मूल में है, जाहिर है कि ऐसे में अहिंसा का उपदेश सबसे ज्यादा पूंजीपतियों के लिए ही मुफीद है। अगर इस उपदेश की दिशा उनकी जगह आम जनता की तरफ मुड़ जाती है तो इसका मतलब यही होगा कि पूंजीवादी हिंसा को सहन करना चाहिए। मैं ऐसा मानता हूँ कि गांधी चूंकि वर्ग जैसी कोटियों में विचार करने की जगह सार्वभौम ढंग से अहिंसा पर विचार करते थे, अतः उनके लिए इस बात का फर्क नहीं था कि किसके लिए हिंसा मुनाफे की जरूरत है और किसके लिए आत्मरक्षा की (यों उन्होंने आत्मरक्षा के लिए हिंसा को अपने वक्तव्यों में बुजदिली से बेहतर माना)। इसी तरह अपरिग्रह का उपदेश आज तक भारत की अधिकांश जनता के लिए कोई महत्व नहीं रखता क्योंकि उसे तो संचय का मौका ही नहीं है। 20 रुपए प्रति व्यक्ति के हिसाब से जिनकी दैनंदिन आमदनी हो, वे अपरिग्रही होने को अभिशप्त हैं। उनके लिए अपरिग्रह का उपदेश किस काम का? जिस विदर्भ में गांधी जी और विनोबा भावे के आश्रम हैं, उसी विदर्भ में किसान पिछले 10 सालों से भारी पैमाने पर आत्महत्या कर रहे हैं। अपरिग्रह उन्हें कैसे समझाया जाय? मुश्किल यह है कि पूंजीवादियों ने न तो अहिंसा अपनायी, न अपरिग्रह। ट्रस्टीशिप इसीलिए एक खोखला सिद्धांत मात्र रह गया, क्योंकि 'पूंजी से जुड़ा हृदय बदल नहीं सकता।' मनुष्य और उसका हृदय एक समाज में आकार ग्रहण करता है, बिना उन सम्बंधों को बदले हृदय परिवर्तन की बात हद से हद एक व्यक्तिगत बात हो सकती है, सामाजिक नहीं। गांधी जी ने 'हिन्द स्वराज' में कहा कि भारतीय लोगों ने ही व्यापारी अंग्रेजों को सत्ता सौंप दी, लेकिन वे यह साफ नहीं करते कि किन भारतीय लोगों ने ऐसा किया। क्या हिन्दुस्तान के आमजन ने ऐसा किया या तत्कालीन प्रभुवर्गों ने? अगर अहिंसा और

तद्भव

अपरिग्रह की सारी जिम्मेदारी आमजन पर हो तो पूंजी के साम्राज्य के लिए इससे ज्यादा खुशी की बात और भला क्या होगी? गांधी दृष्टि का वर्ग अंधत्व उत्सव मनाने की चीज नहीं है, उसे दूर किया जाना चाहिए। उसमें पूंजी और पूंजीवादी राजसत्ता की हिंसक ताकत की अवहेलना छिपी है, भौतिक यथार्थ की अवहेलना छिपी है, गति के अनिवार्य नियम यानी द्वंद्ववाद की अवहेलना छिपी है। गांधीवादी अर्थशास्त्र के चिन्तक अक्सर यह कहते हैं कि उत्पादन के साधन जैसे होंगे, वैसे ही उत्पादन के सम्बंध भी होंगे और समाजवाद की बड़ी खामी उनकी दृष्टि में यह है कि वह उत्पादन के साधन वही रखता है जबकि उत्पादन के सम्बंधों में बदलाव चाहता है। मुश्किल यह है कि वे यह भूल जाते हैं कि यह एकतरफा प्रक्रिया नहीं है। माना कि उत्पादन के साधन उत्पादन के सम्बंधों को प्रभावित करते हैं, लेकिन इसका उलट भी सत्य है, यानी उत्पादन के सम्बंध भी उत्पादन के साधनों को प्रभावित करते हैं। यह एक सतत द्वंद्व प्रक्रिया है। गांधीवादी प्रस्ताव यह है कि यदि उत्पादन के आधुनिक साधन यानी यंत्र प्रौद्योगिकी समाप्त कर दी जाय तो उत्पादन के पूंजीवादी सम्बंध स्वतः खत्म हो जायेंगे। 1780 के दशक में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति की शुरुआत के समय नेड लुड्ड के अनुयायी बुनकरों और दूसरे कुशल कारीगरों ने श्रम की बचत करने वाली नयी मशीनों और कारखानों को इस बिना पर ध्वस्त किया कि उससे उनका रोजगार छिन रहा था। गांधीवादी प्रस्ताव अपने सार में इसी तरह का है। उत्पादन के सम्बंधों का क्षेत्र ही सामाजिक सम्बंधों का क्षेत्र है, अतः वही सामाजिक हस्तक्षेप और राजनीतिक कार्रवाई का क्षेत्र है, उत्पादन के साधनों की मिल्कियत के निर्धारण का क्षेत्र है। उत्पादन के साधनों में भी देश काल पर्यावरण प्रकृति के अनुकूल इन्सानियत के भले के लिए यदि परिवर्तन आने हैं तो इनकी शुरुआत उत्पादन के सम्बंधों में बदलाव से होगी। आप उत्पादन के साधनों की आलोचना कर सकते हैं, लेकिन सचेतन बदलाव की कार्रवाई का क्षेत्र तो उत्पादन के सामाजिक सम्बंध ही है। जेम्स वाट के इंजन या एडिसन के बल्ब या राइट ब्रदर्स के जहाज के भीतर ऐसी कोई संरचनागत विशेषता नहीं थी जो मुनाफे के लिए ही इनके उपयोग को अनिवार्य बना देती। लेकिन युद्ध उद्योग की अधिकांश तकनीक उत्पादन बढ़ाने या मानव श्रम की बचत की दृष्टि से नहीं बनायी गयी, वे तो मुनाफे के निजाम या पूंजीवाद की सुरक्षा, श्रम शक्ति के विनाश और मुनाफे की स्पर्धा के लिए ही बनायी गयी। इन तकनीकों से यदि कोई निजात मिलनी है तो वह पूंजी के सम्बंध, मुनाफे के सम्बंध यानी उत्पादन सम्बंध बदलने से ही मिलेगी। ये महज कुछ उदाहरण हैं। उदाहरण और अधिक क्षेत्रों से भी दिये जा सकते हैं। यहां सचमुच 'हिन्द स्वराज' पर आधारित प्रौद्योगिकी की समझ हमारी मदद नहीं करेगी।

गांधी दृष्टि को 'हिन्द स्वराज' से ही समझना जाने अनजाने एक खास दिशा में ही गांधीवाद की विरासत को निरूपित करने जैसा है। आज 100 साल बाद वह दिशा बहुत कुछ उत्तर आधुनिक है। ज्ञानोदय के बहुतेरे मूल्य यानी मानवकेन्द्रिकता, तर्कवाद, प्रगति, विकासवाद आदि के विरोध में गांधी के लिखे और जिये के तमाम उद्धरण इस दिशा में गांधी को खींच ले जाने के काम आ भी सकते हैं। 1949 के लेख में जार्ज आरवेल ने इसका संकेत भी दिया था। उन्होंने लिखा था, *"...गांधी की शिक्षाएं इस विश्वास के साथ पूरी तरह मेल नहीं खातीं कि मनुष्य ही सभी चीजों का मापदंड है, कि हमारा काम इस धरती को जीने लायक बनाना है, जो एकमात्र धरती हमारे पास है। वे (उनकी शिक्षाएं) यह मान लेने पर ही समझ में आती हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है और पार्थिव जगत एक भ्रम है जिससे बच निकलना है।"*

बहरहाल यह समझते हुए कि सिद्धांत का क्षेत्र समझौते का नहीं होता, व्यवहार के धरातल पर तमाम रैडिकल गांधीवादी आज एक व्यापक साम्राज्य और सामंतवाद विरोधी आंदोलनात्मक मोर्चे का हिस्सा हैं और यह कहना शायद अतिकथन नहीं होगा कि इसमें 'हिन्द स्वराज' की जगह गांधी दृष्टि के दूसरे आयाम अधिक प्रासंगिक हैं।